॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
२४७४

द्रव्य दृष्टि

''प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है;'' इसप्रकार जो यथार्थतया जानता है, उसकी द्रव्यदृष्टि होती है, और द्रव्यदृष्टि के होने पर सम्यक्दर्शन होता है, जिसे सम्यक्दर्शन होता है, उसे मोक्ष हुऐ बिना नहीं रहता, इसलिये सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है।

'प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता,' ऐसा मानने पर वस्तु-स्वभाव का इसप्रकार ज्ञान हो जाता है कि-आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न है, तथा प्रत्येक पुद्गलपरमाणु भिन्न है, दो परमाणु मिलकर एकरूप होकर कभी कार्य नहीं करते किन्तु प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र भिन्न ही है।

जीव के विकारभाव होने में निमित्तरूप विकारी परमाणु (स्कन्ध) हो सकते हैं, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखने पर प्रत्येक परमाणु पृथक् ही है, दो परमाणु कभी भी नहीं मिलते और एक पृथक् परमाणु कभी भी विकार का निमित्त नहीं हो सकता, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य भिन्न है—ऐसी स्वभावदृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के विकार का निमित्त भी नहीं है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से किसी द्रव्य में विकार है ही नहीं, जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से विकार नहीं है।

पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में राग-द्वेष होता है और उसमें कर्म निमित्तरूप होता है,

किन्तु पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो कर्म कोई वस्तु ही नहीं रहा, क्योंकि वह तो स्कन्ध है, और उसके प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं, इसलिये जीव के विकार का निमित्त कोई द्रव्य न रहा, अर्थात् अपनी ओर से लिया जाये तो जीवद्रव्य में विकार ही नहीं रहा। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न है—ऐसी दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि के होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही न रहा, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में वीतरागभाव की ही उत्पत्ति रही।

अवस्थादृष्टि से-पर्यायदृष्टि से अथवा दो द्रव्यों के संयोगी कार्य की दृष्टि में राग-द्वेषादि भाव होते हैं। 'कर्म' अनन्त पुद्गलों का संयोग है, उस संयोग पर या संयोगीभाव पर लक्ष दिया कि राग-द्वेष होता है, किन्तु यदि ऐसी दृष्टि करे (वास्तव में अपने असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि करे) कि असंयोग अर्थात् प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न है तो राग-द्वेष न हो, किन्तु उस दृष्टि के बल से मोक्ष ही हो। इसलिये द्रव्यदृष्टि का अभ्यास परम कर्तव्य है। ✤

कितना जी लिया ? और अब कैसे जीना चाहिये ?

श्री खीमचंद जेठालाल शाह

स्वरूप का भ्रम होना, अर्थात् जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा न मानकर विपरीत मानना, निज की सावधानी का ध्यान न रखकर पर की सावधानी रखना—इसप्रकार का मिथ्यात्व; स्व को भूलकर पर का ज्ञान करनेरूप अज्ञान; अथवा पर का जीवन-मरण, सुख-दुःख, उपकार-अपकार मैं करता हूँ, और परजीव मेरा जीवन-मरणादि करते हैं,—इस आशय का अज्ञान; आत्मस्वभाव में रमणता-लीनता न करके पर में लीन होनेरूप मिथ्याचरण; शुभाशुभ इच्छानिरोध को तप न मानकर आहारादि के त्याग में तपबुद्धि; परवस्तु मुझे लाभ दे सकती है,—इसप्रकार की मान्यतापूर्वक पर में इष्टबुद्धिरूप राग; परवस्तु मुझे हानि पहुंचा सकती है,—इसप्रकार की मान्यतापूर्वक पर में अनिष्टबुद्धिरूप द्वेष; पर की रुचि और स्वरूप की अरुचिरूप क्रोध; पर का किंचित्मात्र भी कुछ नहीं कर सकता, तथापि मैं पर का कार्य कर दूँ,—ऐसा मान; पंचमकाल में धर्म-आत्मस्वभाव कठिन है, इसलिये समझमें नहीं आ सकता, अतः और कुछ करना चाहिये, पुण्य करते-करते धीरे-धीरे स्वरूप प्राप्ति हो जायेगी, इसलिये अभी तो पुण्य ही करना चाहिये; इसप्रकार स्वरूप की रुकावट करनेरूप माया; अपने में अनन्तगुण भरे हुए हैं, उनका लक्ष चूककर पर की-पुण्यादि की

संग्रहबुद्धिरूप लोभ; रागद्वेषादि विकारों की उत्पत्तिरूप हिंसा; पर का परिणमन मेरे अधीन हैं, इसप्रकार माननेरूप असत्य; परद्रव्य और परभाव को अपना माननेरूप चोरी; आत्मा जो अकेला-ज्ञायकस्वरूप स्वतंत्र है, उसे पराधीन माननेरूप मैथुन; संयोगीभाव और संयोगी पदार्थ मेरे हैं—ऐसी पकड़बुद्धिरूप परिग्रह; देहादि की क्रिया से आत्मलाभ, व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति, इत्यादि अनेकप्रकार की मान्यतासहित अज्ञानतापूर्वक कितना जी लिया है, अर्थात् कितना जीवन व्यतीत किया है ?

व्यवहार जीवन की दृष्टि से देखा जाय तो आधसेर आटे की आवश्यकता है, किन्तु लाखों मन अन्न प्राप्त करने की चिंता बनी हुई है; साढ़े तीन हाथ भूमि की आवश्यकता है किन्तु बड़े-बड़े महलों की चिंता बनी रहती है; पच्चीस-पचास वर्ष जीना है किन्तु करोड़ों वर्ष के मंसूबे बांध रखे हैं और उनकी चिंता लगी हुई है; ऐसी अनेकप्रकार की एकत्वबुद्धिरूप चिंता को धारण करके कितना जीवन व्यतीत कर दिया है ?

एक-एक समय को लेकर अनन्तकाल होता है !

यहाँ तो यह बताया गया है कि कितना जी लिया है, अर्थात् कितना जीवन व्यतीत कर लिया है ? और प्रश्न यह है कि 'अब कैसे जीना चाहिये ?'

'कितना जी लिया ?' वाली मान्यताओं का त्याग करके तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व, वस्तु के यथार्थस्वरूप की समझरूप ज्ञान, स्वरूपस्थिरतारूप चारित्र, शुभाशुभ इच्छानिरोधरूप तप, कोई भी पर मुझे हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकता-इसलिये उनके प्रति समभाव, अकषाय-आत्मस्वरूप के लक्ष से रागादि की अनुत्पत्ति होनेरूप स्व-दया, जगत के सर्वद्रव्य पूर्ण स्वतंत्र हैं, इसलिये उनके परिणमन में मेरा किंचित्मात्र हाथ नहीं है; मैं शुद्ध-चिदानन्दरूप, केवल ज्ञायक आत्मा हूँ, परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, मैं द्रव्य-गुण पर्याय से परिपूर्ण हूँ, उनके लक्ष से शुद्धता प्रगट होती है; इत्यादि मान्यतापूर्वक जो जिये हैं, वे परिपूर्ण शुद्धता को, अनन्त अव्याबाध सुख को प्राप्त हुये हैं। जो इसप्रकार से वर्तमान में जीते हैं, वे अनन्त अव्याबाध सुख को पाते हैं, और भविष्य में जो इसप्रकार जियेंगे वे अनन्त अव्याबाध सुख को प्राप्त करेंगे। ऐसा त्रिकालाबाधित एकरूप सिद्धान्त है।

हम भी फूल की भांति चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में ज्ञायक रहकर, स्वभाव की सुगन्धि को फैलाकर उसमें प्रीतिवान होकर, सन्तुष्ट और तृप्त होकर असंख्यात आत्मप्रदेशों से सौन्दर्य प्रगट करके जीवन व्यतीत करें, यही भावना है। ✤

स्तुति कर्ता कौन है ?

''हे जिनेन्द्रदेव! जैसे आप रागादिमल का नाश करके रागादि से रहित हुये हैं उसीप्रकार मेरा स्वभाव भी वैसा ही है, और मैं भी उसी स्वभाव की भावना के द्वारा रागादिमल को धोकर उसी परमात्मपद को प्राप्त करूँगा, जिसे आपने प्राप्त किया है।'' इसप्रकार की यथार्थ समझ जिसे हो, वही जीव भगवान की सच्ची स्तुति करने के योग्य है। जो भय से, आशा से, लोभ से या स्नोहादि से, किसी भी कुदेवादि को मानता है, या उसे नमस्कार करता है, वह केवली भगवान का शत्रु है,—सत्य का अनादर करनेवाला है; उसे वीतराग की किंचित्मात्र भी भक्ति नहीं है। सत् और असत् दोनों मार्ग में एक साथ पैर नहीं चलते! जिसे सत् का सेवन करना हो, उसे असत् का सेवन छोड़ना होगा। ✤

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, फिर भी...!

[व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का दिखाना न्यायसंगत ही है।] (समयसार गाथा ४६ की टीका)

निश्चय और व्यवहार दो नय हैं, उनमें से निश्चयनय यह बतलाता है कि किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् द्रव्य शुद्ध ही है; तथापि व्यवहारनय एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ वर्तमान मात्र का सम्बन्ध बतलाता है, अर्थात् वह बतलाता है कि पर्याय में अशुद्धता है। इसप्रकार निश्चय और व्यवहार (द्रव्य और पर्याय) दोनों को न माने तो ज्ञान मिथ्या है। व्यवहारनय भी अस्तिरूप है। व्यवहारनय है अवश्य, किन्तु यह व्यवहार जानने मात्र के लिये है। यदि कोई व्यवहारनय को आदरणीय माने तो उसकी दृष्टि मिथ्या है, और जो वर्तमान मात्र तक ही व्यवहार है, उसे न माने तो उसका ज्ञान मिथ्या है। हेयबुद्धि से भी व्यवहार को जानना पड़ेगा। निश्चय से व्यवहार के हेय होने पर भी, वर्तमान मात्र के लिये तो उसे जानना ही होगा। व्यवहार का

ज्ञान व्यवहार का बल बताने के लिये नहीं, किन्तु निश्चय बताने के लिये हैं। व्यवहारनय परमार्थ को कहने वाला है। (व्यवहार का उपदेश परमार्थ का लक्ष कराने के लिये है।)

व्यवहारनय अभूतार्थ है, फिर भी.... अर्थात् आत्मा में कर्म का सम्बन्ध कहना, सो अपरमार्थ है, तथापि बीच में ज्ञान करने के लिये वह आता है, इसलिये व्यवहार कहे बिना नहीं चलता। ''हे भाई! सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये तत्त्वों का श्रवण कर, आत्मा की पहिचान कर'', इत्यादि उपदेश व्यवहार के बिना नहीं हो सकता। यदि व्यवहार से भी आत्मा में कर्म का सम्बन्ध न हो तो यह राग-द्वेष और संसार किसके हैं? सम्यक्दर्शन के बाद भी व्यवहार का अवलम्बन अवस्था की निर्बलता के कारण होता अवश्य है, उसे ज्ञानी यथावत् जानते हैं। यदि व्यवहार का अवलम्बन सर्वथा न होता हो तो वीतरागता प्रगट हो जाये।

'निश्चय से तो ज्ञान, ज्ञान में से ही आता है, देव-गुरु-शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं आता'—इसप्रकार निश्चय का वाक्य सुनकर यदि कोई श्रवण-मनन-पठन के शुभभाव को छोड़ ही दे तो वह उल्टा अशुभभाव में लग जायेगा। सत् को समझने में पहले सत् समागम श्रवण, मनन इत्यादि शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता। फिर भी वह शुभराग ज्ञान का कारण नहीं है। किन्तु यदि कोई शुष्क ज्ञानी-निश्चयाभासी प्रथम भूमिका में उस शुभभाव में युक्त न हो तो अभी वह वीतराग तो हुआ नहीं है, इसलिये अशुभ में युक्त होगा और निम्नगति में परिभ्रमण करेगा।

''यदि व्यवहार न बताया जाय तो परमार्थत: शरीर से जीव भिन्न कहा गया है, इसलिये जैसे भस्म को मसल देने में हिंसा नहीं होती, उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवों का नि:शंकतया मर्दन करने पर भी हिंसा का अभाव ही सिद्ध होगा, और ऐसा होने से बन्ध का ही अभाव हो जायेगा।''

यदि व्यवहार से शरीर और जीव का कोई भी संबंध न हो तो, तथा अवस्था में भी राग-द्वेष न हो तो ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता कि ''प्रस्तुत जीव की हिंसा करूँ।'' किन्तु प्रस्तुत जीव को शरीर पर राग है और इसलिये शरीर के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप व्यवहार है, तथा स्वयं भी अभी वीतराग नहीं हुआ है, अर्थात् अवस्था में राग-द्वेष है, सो व्यवहार है; इसलिये प्रस्तुत जीव को मारने का विकल्प उठता है। प्रस्तुत जीव को मारने का विकल्प उठता है, सो वह तेरा व्यवहार है। वह विकल्प भी कब उठता है? कि-प्रस्तुत जीव को शरीर पर ममताभाव है अर्थात् उसका शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वर्तमान में है, सो वह उसका व्यवहार है-इस व्यवहार को जाना, इसलिये प्रस्तुत जीव को मारने का भाव हुआ। निश्चय में हिंसा का विकल्प

नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है, जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही हैं, और जड़ को मारने में हिंसा नहीं होती, अर्थात् निश्चय में तो हिंसा का विकल्प तक नहीं आता। अब यदि व्यवहार ही न हो तो किसी को मारने का विकल्प ही न आए। मारने का विकल्प उठना ही व्यवहार है। अपने में और प्रस्तुत जीव में-दोनों में व्यवहार है, तभी विकल्प उठता है, यदि स्वयं वीतराग होता तो मारने का विकल्प न उठता और यदि प्रस्तुत जीव वीतराग होता तो भी तुझे उसको मारने का विकल्प न उठता। कभी किसी को यह भाव नहीं उठता कि मैं सिद्ध को मार डालूँ। इसका यह कारण है कि वे वीतराग हैं, उनके व्यवहार का अवलंबन शेष नहीं है, यही कारण है कि सिद्ध भगवान के भी कभी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि मैं अमुक जीव को मारूँ! व्यवहार के अवलम्बन के बिना विकल्प नहीं उठता। शरीर इत्यादि की क्रिया आत्मा कर सकता है, इस मान्यता को लोग व्यवहार कहते हैं, परन्तु यह व्यवहार नहीं, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है।

सम्यक्दृष्टि होने पर श्रद्धा में कर्म का सम्बन्ध, निमित्त, विकार और अवस्था, यह सब छूट जाते हैं, फिर भी सम्यक्ज्ञान तो संयोग, निमित्त और अवस्था इत्यादि सब जो जैसा है, वैसा जानता है। वस्तुदृष्टि में अवस्था का लक्ष नहीं है, इसलिये वस्तुदृष्टि से सभी जीव समान हैं, तथापि निगोदिया जीव वर्तमान अवस्था में सिद्ध नहीं है। यदि यह अवस्था, व्यवहार से न मानी जाये तो निगोदिया और सिद्ध जीव में कोई भेद ही न रहे।

वस्तुदृष्टि से सभी परमाणु समान ही हैं, फिर भी यह विकल्प कैसे होता है कि 'रोटी खाई जा सकती है, और माँस नहीं?' यदि व्यवहार ही न हो, अवस्था ही न हो तो पर की ओर का ऐसा विकल्प नहीं हो सकता कि 'यह खाया जा सकता है और यह नहीं।' किन्तु अवस्था है, व्यवहार है; इस व्यवहार को जब जानता है, तब अवस्था का यह विवेक करता है कि 'यह खाया जा सकता है, और यह नहीं।' यही व्यवहार है।

कहा गया है कि "अरिहंतों का आत्मा वंदनीय है," किन्तु निश्चय से (द्रव्यापेक्षा से) तो अरिहंतदेवों का और हिंसक कसाई का आत्मा समान ही है; तथापि कसाई की वंदना कोई नहीं करता और अरहंत की वन्दना करते हैं। अब यहाँ विचार करना है कि वह वन्दना, वस्तुदृष्टि से की जाती है अथवा अवस्थादृष्टि से? यदि वस्तुदृष्टि होती तो, वस्तुदृष्टि में सभी आत्मा समान होने से वन्दना का विकल्प ही न होता। किन्तु अपनी अपूर्ण अवस्था पर लक्ष जाने से वन्दना का विकल्प उठता है। अपनी अवस्थादृष्टि होने से अवस्था का विवेक करके अरहंत को वन्दना करता है, और

कसाई को वन्दना नहीं करता; इसप्रकार व्यवहार है। उस व्यवहार को जिस अवस्था में जैसा है, उसमें वैसा ही पहिचानना होगा।

यदि निश्चय से देखा जाये तो सभी स्त्रियां समान ही हैं, स्त्री और माता दोनों ही निश्चय से समान हैं; फिर भी स्त्री की भाँति ही माता के साथ व्यवहार नहीं किया जाता, क्योंकि अवस्थादृष्टि से दोनों में अन्तर है। इसप्रकार अवस्था का विवेक करना, सो व्यवहार है।

अपने आत्मा की अपेक्षा से भैंसा और बाप निश्चय से दोनों समान ही हैं। यदि तू व्यवहार नहीं मानता तो भैंसे को बाप अथवा बाप को भैंसा कहकर क्यों नहीं बुलाता? अवस्था में व्यवहार है या नहीं? यदि अवस्था में व्यवहार न हो तो भैंस और बाप–दोनों में कोई भेद न रहे; किन्तु अवस्थामात्र जितना सम्बन्ध बताने के लिये व्यवहार है।

व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह आदरणीय नहीं है। 'व्यवहार है' ऐसा कहने पर यदि व्यवहार को ही आदरणीय मान बैठे तो वह त्रैकालिक तत्व की हत्या करता है और यदि व्यवहार को व्यवहार के रूप में भी न जाने तो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में और अन्य मतावलम्बियों द्वारा मानी गई कुलिंगी–प्रतिमा में भेद ही न कर सकेगा। जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा भी जड़ की है, और कुलिंगी प्रतिमा भी जड़ की है, तथापि स्थापनानिक्षेप की अपेक्षा से दोनों में अन्तर है। 'यह जिनेन्द्र देव की प्रतिमा है' इसप्रकार स्थापनानिक्षेप से कहा जाता है। उस स्थापनानिक्षेप को यथावत् जानकर व्यवहार का विवेक करता है, इसी से जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की वन्दना करता है, और कुलिंगी प्रतिमा की वन्दना नहीं करता। स्थापनानिक्षेप स्वयं व्यवहार है, उसे जाने बिना जो कुलिंगी को नमस्कार करता है, वह गृहीतमिथ्यात्व का त्यागी नहीं है।

इसीप्रकार शास्त्रों के सम्बन्ध में विचार किया जाये तो निश्चय से भी समयसार शास्त्र भी जड़ है और दूसरे कुशास्त्र भी जड़ हैं, तथापि समयसार शास्त्र की वन्दना करने और कुशास्त्रों की वन्दना न करने का क्या कारण है? इसका कारण अवस्था का विवेक है। समयसार शास्त्ररूप परिणमित परमाणुओं में सत् को समझने का निमित्त होने की योग्यतारूप वर्तमान अवस्था है और अन्य कुशास्त्रों में वह योग्यतारूप अवस्था नहीं है, इसप्रकार अवस्था को जानकर श्री समयसार की वन्दना की जाती है, इसमें व्यवहार का विवेक है।

जिसे देव–गुरु–शास्त्र की ओर के शुभभाव की अभिमुखता नहीं है और जो संसार का कामी, तीव्र लोलुपी, तीव्र गृद्धि और तीव्र राग–द्वेषयुक्त है, उसे तो तत्व समझ में ही नहीं आयेगा।

और यदि कोई निश्चय की मुख्यतावाला उपदेश सुनकर देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान, भक्ति, विनय और पूजादिरूप व्यवहार को न माने तो उसे भी परमार्थतत्व की श्रद्धा नहीं हो सकेगी; और यदि कोई देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति आदिरूप व्यवहार को ही परमार्थ मान ले तो ही वह परमार्थ को नहीं समझता, उसकी दृष्टि मिथ्या है। परमार्थस्वरूप की दृष्टि को मुख्य करके अवस्था के व्यवहार का विवेक नहीं चूकना चाहिये।

निश्चय से राग मेरा स्वरूप नहीं है, वस्तुस्वरूप में राग है ही नहीं, वस्तु तो त्रिकाल शुद्धस्वभाव है; इसप्रकार वस्तुस्वभाव को लक्ष में लेनेवाली परमार्थदृष्टि के विषय में निर्मलपर्याय भी नहीं आती, किन्तु वस्तु तथा वस्तु को लक्ष में लेनेवाली परमार्थदृष्टि-दोनों को जाननेवाला सम्यक्ज्ञान, त्रिकालस्वभाव अर्थात् निश्चय और वर्तमान अवस्था या व्यवहार-दोनों को यथावत् जानता है। इसप्रकार सम्यक्ज्ञान द्वारा निश्चय-व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय को आदरणीय और व्यवहार को ज्ञातव्य मानना, सो यथार्थ श्रद्धा है।

जो मात्र अपने साथ सम्बन्ध बताये अर्थात् परमार्थस्वरूप बताए, सो निश्चय है, और पर के साथ सम्बन्ध बताए, सो व्यवहार है। आत्मा में कर्म की अपेक्षा न ली जाए तो बन्ध-मोक्ष नहीं हो सकता। एक लकड़ी में दूसरी की अपेक्षा के बिना यह नहीं कहा जा सकता कि यह छोटी है या बड़ी, अर्थात् एक में छोटे-बड़े का भेद नहीं हो सकता। मात्र आत्मवस्तु में दो भेद नहीं होते, अकेली वस्तु उस दृष्टि का विषय है। व्यवहारनय पर की अपेक्षा बतलाता है, इसलिये अपरमार्थभूत है, तथापि धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का दिखाना न्यायसंगत ही है। 'यहाँ दिखाना न्यायसंगत ही है,' ऐसा कहा है, किन्तु ग्रहण करना न्यायसंगत ही है, ऐसा नहीं कहा। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय आदरणीय नहीं किन्तु जाननेयोग्य है। वस्तु के द्वारा वस्तु समझ में नहीं आती, किन्तु पर्याय के द्वारा वस्तु समझ में आती है, और वस्तु को समझनेवाली पर्याय, व्यवहार है। अर्थात् यदि उस व्यवहाररूप पर्याय को न माने तो वस्तु को कौन समझेगा? पर्याय को स्वीकार किये बिना पुरुषार्थ कहाँ करेगा? अर्थात् व्यवहार को न माने तो भी वस्तु समझ में नहीं आयेगी, और यदि उस व्यवहार का लक्ष रहेगा तो भी अखण्ड वस्तु जो कि निश्चय का विषय है, वह ख्याल में नहीं आयेगी। व्यवहार को समझे बिना परमार्थ को कहाँ से समझेगा? और यदि परमार्थ को न समझे तो व्यवहार किस काम का?

निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का स्याद्वाद के द्वारा विरोध मिटाकर श्रद्धान करना, सो

सम्यक्त्व है। दोनों नयों का परस्पर विरोध कैसे है ? सो कहते हैं-निश्चयनय वस्तु को अखण्ड, एकरूप, राग-द्वेषरहित, कर्मसंयोग से रहित और पर्यायभेद से रहित, निरपेक्ष बतलाता है, और व्यवहारनय पर की अपेक्षा, भेद, अवस्था की कमी, राग-द्वेष और कर्म का संयोग, यह सब बतलाता है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का परस्पर विरोध है। उसमें व्यवहारनय तो अवस्था में जैसा है, वैसा जानता है। देव, गुरु, शास्त्र का निमित्त है, राग है, कमी है, कर्म का संग है, शरीर का संयोग है-यह सब जानता है, और निश्चयनय त्रिकाल स्वभाव का ही लक्ष करता है, त्रिकाल स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, संयोग नहीं है, निमित्त नहीं है, कमी नहीं है, शरीर नहीं है, कर्म नहीं है, इसप्रकार स्वभावदृष्टि के बल से निश्चयनय सबकुछ उड़ा देता है, और व्यवहारनय, यह सब जैसा है, वैसा बतलाता है। व्यवहार को जानना और निश्चय को जानकर उसका आदर करना-यही दोनों नयों का विरोध मिटाने का उपाय है, और इसीप्रकार यथार्थ श्रद्धान होता है, वही सम्यक्त्व है। किन्तु दोनों नयों के कथन को समान जानना अर्थात् दोनों को आदरणीय मानना, यथार्थ श्रद्धान नहीं है। दोनों नयों को न माने और एक को ही माने, अथवा दोनों नयों को आदरणीय माने तो श्रद्धा और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं।

पुण्यबन्ध किया!

'पुण्य-बन्ध किया' यह सुनकर अज्ञानी उत्साहित हो उठता है, किन्तु पुण्य-बन्ध करने का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि पुण्यबन्ध के द्वारा आत्मा बंध गया, जिसका फल संसार है। इसलिये जिससे आत्मा बंधता है, और संसार में परिभ्रमण करता है, ऐसे उस पुण्यबन्ध में उत्साह कैसे किया जा सकता है ? अज्ञानी की दृष्टि आत्मा पर नहीं, किन्तु जड़ संयोग पर है, इसलिये 'पुण्य बंध किया' इस वाक्य में आत्मा बन्धन में पड़ गया, यह बात छोड़कर पुण्य में उत्साहित होता है। पुण्य से आत्मा बंधता है, इसे भूलकर पुण्य के फल से अच्छे-अच्छे संयोगों की प्राप्ति होगी, ऐसा मानकर उस पुण्य की चाह करता है। पुण्य की चाह से मुक्त आत्मस्वभाव का अनादर और अनन्त संसार का आदर होता है, अज्ञानी को इसका लेशमात्र भान नहीं है। किन्तु बाह्यदृष्टि को छोड़कर, आत्मा में उस पुण्य भाव का फल क्या होता है ?- यह समझने की चिंता न करे तो उसकी

समझ में आ सकता है कि पुण्य भाव से आत्मा में दु:ख की ही उत्पत्ति होती है, और फिर वह कभी पुण्य के लिये उत्साहित न हो तथा पुण्य में कभी धर्म न माने एवं उसे धर्म का हेतु न माने। कुछ लोग कहते हैं कि-यह ठीक है कि पुण्य धर्म नहीं है, किन्तु वह धर्म का कारण अर्थात् हेतु है। उनकी यह मान्यता भी मिथ्या है।

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायी के द्वितीय भाग के ७६३ वें श्लोक में कहा है कि :—

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः।
अस्ति नाबंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात्॥

अर्थ :- प्रज्ञा के अपराध से अर्थात् अज्ञान से ऐसी शंका भी न करना चाहिये कि शुभोपयोग आंशिक निर्जरा का कारण हो सकता है। क्योंकि वास्तव में शुभोपयोग भी संसार का कारण होने से, वह अबंध का हेतु (निर्जरादि का कारण) नहीं हो सकता, और उसे शुभ भी नहीं कहा जाता।

भावार्थ :- शुभोपयोग को निर्जरा का कारण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि शुभोपयोग भी बन्ध का ही कारण है। इसलिये उसे मात्र व्यवहार से 'शुभ' कहा जाता है, वास्तव में तो जिससे संवर-निर्जरा होती है, उसी को 'शुभ' कहा जाता है। शुभोपयोग से जो शुभ बंध होता है, वह भी बंध ही है, इसलिये शुभोपयोग 'अशुभ' ही है-शुभ नहीं।

निमित्त

[१]

कौन-सा ज्ञान निमित्त को यथार्थ जानता है?

जब ज्ञान स्वाभिमुख होता है, तब वह सम्यक्ज्ञान होता है, और सम्यक्ज्ञान स्व-पर को यथार्थतया जानता है, इसलिये जिस ज्ञान ने स्व का निर्णय किया है, वह ज्ञान 'पर निमित्त है' इसका यथार्थ स्वीकार करता है। स्व के निर्णय के बिना पर का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। जो ज्ञान स्वभावोन्मुख होता है, वह पर का भी यथार्थ विवेक करता है।

जब ज्ञान, पर के लक्ष से हटकर स्वभाव की ओर जाता है, तभी वह स्व-पर के भेद को जानता है। वहाँ अमुक विकल्प है-राग है, किन्तु सम्यक्ज्ञान वह है कि जो राग को जानता तो है

किन्तु उसे अपना स्वीकार नहीं करता, और राग का निषेध करके रागरहित स्वभाव की ओर ही उन्मुख होता है। ऐसे ज्ञान में ही राग को और निमित्त को यथावत् यथार्थ जानने की शक्ति है। किन्तु जो ज्ञान, रागरहित स्वभाव की ओर उन्मुख ही नहीं हुआ और राग में ही अटक गया है, वह ज्ञान स्व-पर को यथार्थ जानने का कार्य नहीं कर सकेगा।

अज्ञानी की दृष्टि ही पराधीन होती है, इसलिये वह स्वभाव का निर्णय किये बिना पर को जानना चाहता है। 'जब कोई कार्य होता है, तब पर-निमित्त होता है, सम्यक्दर्शन के होने में सद्गुरु इत्यादि निमित्त होते हैं।' इत्यादि प्रकार से वह पर संयोग को देखता है, किन्तु सम्यक्दर्शनरूप से उस समय की पर्याय स्वयं पर से निरपेक्ष स्वतंत्रतया ही परिणमित हुई है-ऐसी स्वाधीनदृष्टि के प्रगट हुए बिना निमित्ताश्रितदृष्टि दूर नहीं होती।

[२]

उपादान और निमित्त की योग्यता

वस्तु में जब कार्य होता है, तब परवस्तुयें तो सब जैसी की वैसी रहती हैं, उनमें से कोई भी परवस्तु उपादान के कार्य में कोई सहायता नहीं करती अथवा प्रभाव नहीं डालती, उसमें से किस परवस्तु में निमित्तत्व का आरोप किया जाये, यह कर्ता के परिणाम पर आधार रखता है, अर्थात् कर्ता स्वयं जिस कार्यरूप परिणमित होता है, तदनुसार परवस्तु में आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है। उस परवस्तु में भी उसप्रकार की (निमित्तत्व) की स्वतंत्र योग्यता है।

यहाँ किसी को **प्रश्न** हो सकता है कि-जब कि कोई परवस्तु कार्य में कुछ नहीं करती, तब फिर उन वस्तुओं में से एक को निमित्त कहने और दूसरी को निमित्त न कहने का क्या कारण है? उसका **उत्तर** यह है कि-जैसे उपादान-वस्तु में स्वयं कार्यरूप परिणमित होने की योग्यता है; इसीप्रकार उस परवस्तु में भी ऐसे ही निमित्तत्व की योग्यता है कि जिससे उसी को निमित्त कहा जाता है। उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता है।

परद्रव्य को निमित्त कहना, सो तो आरोप है, किन्तु पहले प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण और प्रत्येक समय की पर्याय स्वतंत्र है, ऐसी निरपेक्षदृष्टि (अनारोपदृष्टि) हुए बिना आरोप को कौन जानेगा? अपने स्वतंत्र स्वभाव के यथार्थ विवेक के बिना पर में कहीं भी पार नहीं पड़ सकता, जिसकी अपने स्वभाव की स्वतंत्रदृष्टि विकसित हुई है, उसका ज्ञान चौदह ब्रह्माण्ड के भावों का विवेक कर लेगा।

[३]

निमित्तत्व का उपचार कौन करे ?

जब जीव ने स्वभाव की प्रतीति की, तब आरोप से भगवान को निमित्त कहा जाता है। किन्तु 'भगवान निमित्त हैं' ऐसा आरोप कौन करता है ? वह आरोप कहीं भगवान स्वयं नहीं करते कि 'मैं तेरे कार्य में निमित्त हूँ' किन्तु जीव स्वयं अनारोप-निरपेक्षस्वभाव को समझने के बाद विकल्प से आरोप करता है कि 'भगवान मुझे निमित्त थे।' पहले अपना लक्ष भगवान पर था—ऐसा ज्ञान करके वर्तमान विकल्प के द्वारा भगवान में निमित्तत्व का आरोप करता है।

जिसकी यह दृष्टि है कि मैं पर के कार्य में निमित्त होता हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसकी दृष्टि वस्तुस्वभाव पर नहीं किन्तु संयोग पर है। कार्य तो वस्तु के स्वभाव से ही होता है। मैं पर का निमित्त होऊँ अर्थात् मानों परद्रव्य मेरी अपेक्षा रखकर परिणमित होता हो-ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में जो जीव स्वयं सत् को समझा है, वह अपने को विकल्प उठने पर निमित्त को जानकर ऐसा आरोपित करता है कि यह मुझे निमित्त था। इसप्रकार जहाँ स्वतंत्र कार्य होता है, वहाँ पर में निमित्त का आरोप किया जाता है, किन्तु यदि कोई जीव, पर के कार्य में निमित्त होना चाहे तो उसकी दृष्टि पराश्रित है।

[४]

पर्याय और निमित्त का ज्ञान

आत्मा का स्वभाव शुद्धज्ञानरूप, पर से और विकार से भिन्न है। आत्मा में जो रागादिक होते हैं, उनका पहले ज्ञान करना चाहिये कि यह रागादिक मेरी पर्याय में होते हैं, उन्हें कर्म नहीं कराते; किन्तु वे मेरे पुरुषार्थ के दोष से होते हैं। इतना स्वीकार करने के बाद त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि से उस राग का भी निषेध करना चाहिये कि राग मेरे स्वभाव में है ही नहीं; स्वभावदृष्टि से मैं राग का कर्ता नहीं हूँ।

यदि जीव अपनी पर्याय में राग को स्वीकार न करे तो उसका निषेध करके स्वभाव की ओर कैसे ढलेगा ? यदि यह माने कि राग, जड़ की पर्याय में होता है अथवा कर्म, राग कराते हैं तो वह जीव कभी राग का निषेध नहीं कर सकेगा। और यदि यह माने कि राग करते-करते धर्म होगा तो भी वह राग का निषेध नहीं कर सकेगा। इसलिये, पहले अपनी पर्याय में क्षणिक राग होता है, यह जानकर, फिर स्वभावदृष्टि के द्वारा उसका निषेध करना चाहिये, यह सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान का उपाय है ?

प्रश्न:- जैसे रागादि का पहले ज्ञान करके फिर उसका निषेध करने को कहा है, उसीप्रकार परद्रव्य के कार्य में मैं निमित्त हूँ, इसप्रकार के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को पहले जानकर, फिर उसका निषेध करना योग्य है या नहीं ?

उत्तर:-नहीं, यह विपरीतदृष्टि है, क्योंकि स्वद्रव्य में परद्रव्य का अभाव ही है, इसलिये पहले पर से भिन्न और पर के सम्बन्ध से रहित निरपेक्ष द्रव्य का ज्ञान करने के बाद परद्रव्य का और परद्रव्य के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है। जब तक स्वद्रव्य को यथार्थ न जाने, तब तक ज्ञानी की स्व-परप्रकाशक शक्ति विकसित नहीं होती।

जो रागादि भाव होते हैं, वे अपनी पर्याय में होते हैं; इसलिये यदि उसे न जाने तो संपूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिये उसे सर्वप्रथम जानना चाहिये। किन्तु परद्रव्य अपने से भिन्न ही है, इसलिये उसके साथ के सम्बन्ध का पहले निषेध और फिर ज्ञान करना योग्य है। पर्याय में जो राग होता है, वह निजवस्तु में होता है, इसलिये उसका पहले ज्ञान करके, फिर निषेध करना चाहिये। राग का निषेध करके जो ज्ञान, अखण्ड स्वभावाभिमुख होता है, उस ज्ञान में स्व-पर को यथार्थ जानने की शक्ति है।

[५]

निमित्त कब कहलाता है ?

वस्तु में स्वयं कार्य हो, तभी योग्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है। कार्य हुए बिना किसी को निमित्त नहीं कहा जाता। जहाँ कार्य होता है, वहाँ निमित्त होता है, किन्तु जहाँ कार्य ही नहीं, वहाँ निमित्त किसका ?

यदि कोई यह माने कि अमुक निमित्त होने से कार्य नहीं हुआ, और अमुक निमित्त मिलने से कार्य हुआ है, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। कार्य हुए बिना निमित्त किसका कहा जा सकता है ? जब कार्य हुआ, तब जिस पदार्थ को निमित्त माना जाता है, वह पदार्थ तो पहले भी था, किन्तु उस समय उपादान में कार्य होने की योग्यता नहीं थी, इसलिये किसी परपदार्थ को वास्तव में निमित्त नहीं कहा गया, किन्तु जब कार्य हुआ, तब वह निमित्त कहलाया,-इसप्रकार यथार्थ समझना चाहिये, क्योंकि 'निमित्त' कहते ही वह किसी उपादान में होनेवाले कार्य की अपेक्षा रखता है। जहाँ कार्य ही न हो, वहाँ निमित्त कहाँ से होगा।

[६]

मिथ्या और यथार्थ

यदि यह माने कि निमित्त है ही नहीं तो वह मिथ्या है, और यदि यह माने कि निमित्त है किन्तु उससे उपादान में कोई कार्य होता है तो वह मिथ्या है। निमित्त का उपादान पर कोई प्रभाव होता है अथवा वह उपादान में कोई सहायता, प्रभाव या हानि-लाभ करता है तो यह मान्यता भी मिथ्या है।

जिस समय उपादान में कार्य होता है, उस समय निमित्तत्व के योग्य परवस्तु को निमित्त कहा जाता है और इसप्रकार कार्य के समय निमित्त होता अवश्य है, किन्तु उससे उपादान में कोई कार्य नहीं होता। उपादान स्वयं अपना कार्य अपने में करता है और निमित्त स्वयं अपना कार्य अपने में करता है। उपादान, निमित्त के आधीन नहीं है और निमित्त, उपादान के अधीन नहीं है-ऐसा जानना, सो यथार्थ है। ✤

❀ ❀ ❀ ❀

ज्ञानी और अज्ञानी का महान अंतर

जब अपने ऊपर कोई शत्रु चढ़ आता है, तब उस समय शत्रु को मारने (विरोधी हिंसा करने) का भाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है, यह निम्नलिखित बातों से स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा:—

(१) ज्ञानी मानता हो कि-यह शत्रु आया, इसलिये मुझे हिंसा का भाव हुआ है, सो बात नहीं है; किन्तु अपनी पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण हिंसा का भाव हो गया है।

अज्ञानी यह मानता है कि-यह शत्रु आया, इसीलिये मुझे हिंसा का भाव हुआ है, यदि यह न आया होता तो हिंसा का भाव न होता।

ज्ञानी अपनी पर्याय का दोष जानता है और अज्ञानी अपनी पर्याय के दोष को स्वीकार न करके दूसरे का दोष निकालता है। वास्तव में ज्ञानी किसी अन्य को शत्रु नहीं मानता।

(२) ज्ञानी यह विचार करता है कि यह विरोधी हिंसा का भाव भी मुझे नहीं करना चाहिये। शत्रु की उपस्थिति होने पर भी, यदि इसी क्षण पुरुषार्थ की उग्रता से वीतरागता हो सके तो मुझे यह

भाव छोड़ने योग्य है।

अज्ञानी यह विचार करता है कि जब शत्रु आकर हैरान करता है, तब इस समय तो विरोधी-हिंसा का भाव करना ही चाहिये।

ज्ञानी के वह हिंसा भाव छोड़ने की भावना है और अज्ञानी के उस हिंसा भाव को करने की भावना है। ज्ञानी के उस भाव का अनादर और खेद होता है, तथा अज्ञानी को उस भाव के प्रति आदर और उत्साह होता है।

(३) ज्ञानी यह मानता है कि विरोधभाव के होने पर लड़ाई में शत्रु के साथ हार या जीत पुण्य-पाप के निमित्त से होती है, मेरे पुरुषार्थ से नहीं; और वह लड़ाई में अपने को शरीर की क्रिया का कर्ता नहीं मानता।

अज्ञानी यह मानता है कि-शत्रु के साथ होनेवाली लड़ाई में मैं अपने पुरुषार्थ से जीतता हूँ, अथवा अल्प-पुरुषार्थ के कारण हारता हूँ, और लड़ाई में शरीर की क्रिया मेरी शक्ति से होती है।

ज्ञानी, पर में अपने पुरुषार्थ को नहीं मानते, अर्थात् वे यह नहीं मानते कि अपने पुरुषार्थ से दूसरे के कार्य होते हैं, और इसलिये वे पर का अभिमान नहीं करते। अज्ञानी यह मानता है कि अपने पुरुषार्थ से दूसरे के कार्य होते हैं, और वह पर में अभिमान करता है।

(४) ज्ञानीजन, शत्रु के साथ होनेवाली हार-जीत को अपनी नहीं मानते, किन्तु जितने अंश में राग-द्वेष होता है, उतने अंश में हार मानते हैं, और राग-रहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान को जितने अंश में स्थिर बना रखा, उतने-उतने अंश में जीव मानते हैं। राग को अपना मानना ही सबसे बड़ी हार है। वे बाहर की हार-जीत से अपना हानि-लाभ नहीं मानते।

अज्ञानी जीव, शत्रु के साथ होनेवाली हार-जीत को अपनी मानता है, किन्तु जो राग-द्वेष होता है, वही अपनी हार है तथा उस राग को अपना कर्तव्य मानता है, सो यह बहुत बड़ी हार है,-इसे वह नहीं जानता। वह बाहर की हार-जीत से अपना हानि-लाभ मानता है।

ज्ञानी अपनी पर्याय से ही हानि-लाभ मानता है, पर से नहीं; और अज्ञानी अपनी पर्याय के हानि-लाभ को नहीं जानता किन्तु पर से हानि-लाभ मानता है। ज्ञानी अपनी पर्याय के विकार को दूर करना चाहता है और अज्ञानी बाह्यसंयोग को दूर करना चाहता है।

इसप्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी-दोनों में विरोधी हिंसा का भाव समान होने पर भी तथा बाह्यक्रिया समान होने पर भी, ज्ञानी को उस समय अल्प-पाप और अधिक निर्जरा होती है, तब

अज्ञानी को अनंत-पाप होता है। उस समय यथार्थ अभिप्राय के कारण ज्ञानी का संसार घटता जाता है, और अज्ञानी के विपरीत अभिप्राय के कारण अनन्त संसार बढ़ता जाता है। सम्यक्दर्शन होने पर जीव का अभिप्राय बदल जाता है, वह कभी विकार भावों की भावना नहीं करता, और अपने को परवस्तु का कर्ता नहीं मानता। ऐसे सम्यक् अभिप्रायवाले धर्मात्मा के व्रत, तप, त्याग तथा प्रतिमादि के न होने पर भी, उसने यथार्थ अभिप्राय के बल से संसार के मूल को छेद डाला है। विपरीत अभिप्राय का अनन्त पाप, शुभभावों के द्वारा दूर नहीं हो सकता, किन्तु यथार्थ समझ से ही दूर हो सकता है। इसलिये यथार्थ अभिप्राय अर्थात् सम्यक्दर्शन ही प्रथम अपूर्व धर्म है।✤

समयसार-प्रतिष्ठा

[ज्येष्ठ कृष्णा ८ को स्वाध्यायमन्दिर सोनगढ़ में, समयसार प्रतिष्ठा दिन]

कौन कहता है कि गरमी से जीवन मुरझा जाता है ? जब ग्रीष्म का घोर ताप पड़ रहा है, तब आस-पास के वृक्षों पर दृष्टिपात करते हैं तो वे नव पल्लवित हुए दिखाई देते हैं। असह्य ताप के होने पर भी वृक्ष मुरझाते नहीं हैं, प्रत्युत वे विकासित होते हैं। अग्नि का ताप देते-देते सुवर्ण शुद्ध होता जाता है। इन दृष्टान्तों से हमें यह सीखने को मिलता है। संसार में आधि, व्याधि, उपाधिरूप त्रिविध ताप के होने पर भी जो अपने आत्ममंदिर में समयसार की प्रतिष्ठा करता है, अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप को पहिचानकर उसमें स्थिरता करता है, वह अपने शुद्ध-स्वरूप में विकास को प्राप्त होता है, उसमें ताप किंचित्मात्र भी विघ्न नहीं कर सकता।

हे समयसार! अंतरंग में तेरी प्रतिष्ठा करनेवाला, जड़ की-शारीरिक निरोगता, लक्ष्मी, कुटुम्ब, कीर्ति इत्यादि की प्रतिष्ठा कदापि नहीं होने देगा। और की तो बात क्या, वह परस्वरूप देव, गुरु, शास्त्र की भी प्रतिष्ठा नहीं करेगा; दया, दान, पूजा, भक्ति जो कि शुभभाव हैं-विकार हैं, उनकी भी प्रतिष्ठा नहीं करेगा, और ज्ञान-दर्शनादि गुणों की अपूर्ण पर्याय की भी प्रतिष्ठा नहीं करेगा। इसप्रकार वह सर्व संयोगी पदार्थों की, शुभाशुभ-विकारी भावों की अथवा अपूर्ण निर्मल पर्याय की कभी भी प्रतिष्ठा नहीं करेगा; किन्तु वह मात्र एक परमपारिणामिकस्वभावभाव की ही प्रतिष्ठा करेगा।

प्रत्येक मुमुक्षु अपने आत्ममंदिर में समयसार की ऐसी प्रतिष्ठा एकमात्र ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी के दिन ही नहीं, किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षण में करे,-यही भावना है। —श्री खीमचंद जेठालाल सेठ

वस्तु-स्वभाव

इस जगत् में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल यह छह द्रव्य हैं। वे छहों द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय सहित अपने-अपने स्वभाव में हैं। यद्यपि उनकी स्थिति एक ही स्थान पर है किन्तु वे कोई एक दूसरे में मिल नहीं जाते, ऐसा ही अनादि व्यवहार है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ मिलता नहीं है, किसी के गुण अन्य के गुणों के साथ नहीं मिलते, किसी की पर्याय अन्य की पर्याय के साथ नहीं मिलती, ऐसी ही उदासीन वृत्ति है।

जैसे एक गुफा में छह मुनिराज बहुत समय से रहते हैं, किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, वे उदासीनतापूर्वक एक ही क्षेत्र में रहते हैं; इसीप्रकार छह द्रव्यों को भी एक ही लोक-क्षेत्र में रहते हुए पृथक् जानना चाहिये।

यहाँ वीतरागी मुनियों के दृष्टान्त से वस्तु का निरपेक्षस्वभाव समझाया है। जैसे एक गुफा में रहने वाले छह वीतरागी मुनि अपने-अपने स्वरूप-साधन में ही लीन हैं, किसी का किसी पर मोह नहीं है, दूसरे मुनि क्या करते हैं अथवा उनका क्या होता है; इसका लक्ष नहीं है। किसी मुनि की आहार ग्रहण करने की वृत्ति उत्पन्न हो और वे आहार लेने चले जायें तो दूसरे मुनि को उसका कोई लक्ष ही नहीं होता, क्योंकि वे अप्रमत्तदशा में लीन होते हैं। किसी को सिंह चीर-फाड़कर खा रहा हो किन्तु अन्य मुनियों को उसका विकल्प तक नहीं होता। इसप्रकार वे वीतरागी मुनि एक दूसरे से निरपेक्षतया स्वरूप-साधना में ही लीन हैं। इसीप्रकार इस लोकरूपी गुफा में छहों द्रव्य, वीतरागी मुनियों की भाँति एक दूसरे से निरपेक्ष होकर रह रहे हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता, सभी द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय में ही रहते हैं।

उन छह द्रव्यों में से जीव के अतिरिक्त शेष पाँच अजीव द्रव्य हैं, उनके गुण और पर्यायें भी अजीव हैं। एक जीवद्रव्य चेतन है, उसके गुण और पर्यायें भी चेतनरूप हैं। इसलिये हे भव्यात्मन्! यह जीवद्रव्य ज्ञानस्वरूप देखने-जाननेरूप है, उसे तू देख। यह अनादिकाल से परद्रव्य के प्रति होनेवाले मोह से पर में ममत्वभाव धारण करके अपने स्वभाव को भूलकर परद्रव्य को अपना इष्ट जानकर अपने को पररूप मान रहा है। स्वयं तो अमूर्तिक है, किन्तु उसे भूलकर अपने को मूर्तिक-जड़भावरूप मान रहा है, किन्तु स्वयं जड़ नहीं हो गया है; वह स्वयं अपने चेतना के व्यवहार को कदापि नहीं छोड़ता।

जैसे कोई नट, लोभ के वशीभूत होकर अपने शरीर पर सिंहचर्म ओढ़कर सिंह का स्वांग धारण करके आता है और अनेक प्रकार की चेष्टायें, कूद-फांद, और दहाड़ना-चिल्लाना आदि

विविध क्रियाऐं करता है। उसे देखकर अजान भोले प्राणी उसे सिंह समझकर भयभीत होते हैं; किन्तु वह (नट-मानव) सिंह नहीं है, उसने लोभ के वशीभूत होकर पशु का रूप बना रखा है, और उस समय स्वयं अपने को पशु मानकर पशु जैसी प्रवृत्ति करता है, किन्तु वह पशु नहीं है, मनुष्य ही है। इसीप्रकार यह संसारी जीव अपनी अनादिकालीन भूल से जिस गति में गया है, उसी गतिरूप अपने को मान रहा है। चारों गतियों के अनेक पौद्गलिक शरीर धारण करके अपने को देव-नारकादि के आकार का मान रहा है। 'मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं इस संयोग से सुखी हूँ, और मैं इस संयोग से दुःखी हूँ, यह धन-धान्य कुटुम्बीजन इत्यादि मेरे हैं,' इसप्रकार अपने को कर्म-निमित्त से जड़ समान, पौद्गलिक शरीर में रहनेवाला अचेतन की चेष्टारूप मानने लगा, परन्तु वहाँ भी अपना विशेष देखने-जाननेरूप चैतन्यभाव नहीं छूटता, वह स्वयं तो जीव ही है। (दृष्टान्त में पशु के स्वांग की बात कही गई है, अर्थात् जो अज्ञानी मनुष्य अपने को जड़रूप-पररूप मानता है, वह पशु समान अविवेकी है।) जैसे वह नष्ट सिंहचर्म को छोड़कर सिंह के स्वांग को छोड़ देता है, तब सबका भ्रम दूर हो जाता है, और सब उसे मनुष्य मानने लगते हैं; वह भी मनुष्य ही रहता है और पहले भी मनुष्य था, उसे मात्र भ्रमवश सिंह मान रखा था। इसीप्रकार जब आत्मा को शरीररूपी चोले से भिन्न जाना-माना जाता है, तब आत्मा शुद्ध हो जाता है। ऐसा यह जीव-अजीव का स्वरूप है, उसे हे भव्य जीव! तू निश्चय से जान। जैसा जीव-अजीव का स्वरूप कहा है, वैसा ही विचार सम्यक्त्व होने पर सहज ही होता है। परवस्तुओं से ममत्व दूर होकर शुद्ध श्रद्धान होता है। जो अमूर्तिक शुद्धात्मा सिद्ध भगवान हैं, उनका स्वरूप सम्यक्दृष्टि जीव अपने अनुभव में ऐसा विचारते हैं। चौदहवें गुणस्थान में पौद्गलिक शरीर के संयोग में रहनेवाले आत्मा उस शरीर को छोड़कर अपनी शुद्धपरिणति द्वारा शरीराकार, स्वयं चेतनरूप सिद्ध होकर रहते हैं। उसीप्रकार सम्यक्दृष्टि जीव भी अपने स्वभाव को ऐसा विचार करता है कि द्रव्यदृष्टि से (अन्तरंग स्वभावदृष्टि से निश्चयतः) देखने पर मैं भी अपने चैतन्यभाव के द्वारा इस पौद्गलिक शरीर से भिन्न हूँ। इसप्रकार भिन्नत्व का विचार करता है कि वर्तमान में जो इस शरीर के साथ एक क्षेत्र में रह रहा हूँ, उसमें जो देखने-जानने का गुण है, वह मेरा है, और यह शरीर जड़ है। आयु पूर्ण होने पर तथा सिद्धावस्था होने पर यह शरीर छूट जाता है, और मैं जैसा का तैसा स्वक्षेत्र में स्थित ही हूँ। इस शरीर की चमड़ी, हड्डी और माँस, नसें इत्यादि सब पौद्गलिक आकाररूप मूर्तिक हैं, वे मेरे अंग नहीं हैं, मैं चैतन्य अमूर्तिक हूँ। इस शरीर की चमड़ी, माँस, हड्डी

इत्यादि के स्कन्ध भले ही बिखर जायें, किन्तु मैं तो सदा ज्ञाता-दृष्टा अपने स्थान में (स्वभाव में), बना रहता हूँ। मेरे आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में रहनेवाले सभी पौद्गलिक मूर्तिक परमाणुओं के खिर जाने पर भी मैं ज्ञाता-दृष्टा सिद्ध समान आत्मा रह जाता हूँ। सम्यक्त्व के होने पर-स्व पर का ऐसा ही विचार होता है। ऐसा विचार होने पर सम्यक्दृष्टि का शरीरादि पर-वस्तुओं से ममत्व छूट जाता है। परवस्तुओं से ममत्व छूट जाने पर निराकुलता सहज ही प्रगट हो जाती है। निराकुलता के प्रगट होने पर चारित्र की वृद्धि होती है, चारित्र की वृद्धि होने पर विशुद्धता की विशेष वृद्धि होती है; विशुद्धता की वृद्धि होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर संसार-भ्रमण दूर होकर जीव सर्वप्रकार से शुद्ध सिद्धपद प्राप्त करके संपूर्ण सुखी होता है, तथा सिद्धस्थान में बिराजमान होकर अकलंक निर्दोष सिद्ध होता है और जगतपूज्य पद को धारण करके अविनाशी सुखरूप होता है। ऐसे सिद्धपद को हमारा नमस्कार हो! उनकी भक्ति के प्रसाद से हमें ऐसे पद की प्राप्ति हो। [सुदृष्टितरंगिणी, पृष्ठ १२२ से १२४ के आधार पर] ✤

सम्यग्दर्शन की अपार महिमा

[समयसार प्रवचन के आधार से]

(१) यद्यपि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है, किन्तु वह सम्यक्ज्ञान नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, उनके लक्ष से कषाय के मन्द करने पर ज्ञान का जो क्षयोपशम होता है, वह ज्ञान आत्मा के सम्यक्ज्ञान का कारण नहीं होता। जब उस पर के लक्ष को छोड़कर ज्ञान को स्वाभिमुख किया जाता है, तब ही सम्यक्ज्ञान होता है। अर्थात् सम्यक्ज्ञान स्वाभिमुखतापूर्वक होता है, और उसके पश्चात् भी स्वाभिमुखता के द्वारा सम्यक्ज्ञान का विशेष विकास होता है। परोन्मुखता के द्वारा सम्यक्ज्ञान का विकास नहीं होता।

(२) ज्ञान का कार्य स्व-पर को यथावत् जानना है। परजीव को दुःख होता है और अपने में तीव्र कषाय-भाव है, उसे जानने की चिंता किये बिना जो पर को दुःख देने के भावरूप तीव्र कषाय

करता है, उसे तीव्र ज्ञानावरणी का बन्ध होता है। और 'मैं पर को सुखी करता हूँ'-ऐसा मानता है, किन्तु ऐसा यथार्थ ज्ञान नहीं करता कि परजीव अपने भाव से ही सुखी होता है, इसलिये शुभभाव के होने पर भी ज्ञानावरणी कर्म का बन्ध होता है, और अज्ञानदशा बढ़ती जाती है।

(३) ज्ञान का यथार्थ कार्य स्वाभिमुख होकर आत्मस्वभाव में एकाग्र होना है। उसके स्थान पर ज्ञान जितने अंश में स्व को चूककर पर में अटकता है, उतने अंश में ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है। जब ज्ञान, स्व को सर्वथा भूलकर मात्र पर की ओर ही एकाग्र होता है, तब मिथ्याज्ञानदशा होती है। अपनी ओर का ज्ञान होने पर भी जितने अंश में पर की ओर उपयोग एकाग्र होता है, उतने अंश में ज्ञान का परिणमन हीन होता है,-वह साधकदशा है, वहाँ ज्ञान सम्यक् है, किन्तु अपूर्ण है। और जब ज्ञान सम्पूर्ण स्वाभिमुख होकर स्वाभाव में सम्पूर्ण एकाग्र होता है, तब उसका परिणमन परिपूर्ण होकर केवलज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि पराभिमुखता से ज्ञान का विकास नहीं होता और ज्ञानावरणकर्म का नाश नहीं हो सकता, किन्तु स्वभावाभिमुखता के द्वारा ज्ञान का विकास होता है, और ज्ञानावरणकर्म का नाश होता है।

(४) ज्ञान का फल स्वाभिमुख होकर स्वभाव की एकता करना ही है, उसके अतिरिक्त का ज्ञान भाररूप है अथवा वह संसार का कारण है। ''जो ज्ञान अनन्तकाल से संसार का हेतु हो रहा था, उस ज्ञान को एक समय में जात्यन्तर करके भवनिवृत्तिरूप करनेवाले कल्याणमूर्ति श्री सम्यक्दर्शन को नमस्कार हो!'' (श्रीमद् राजचन्द्र) तात्पर्य यह है कि:—

११ अंग और ९ पूर्व का पाठी हो, तथापि सम्यक्दर्शन के बिना उसका वह ज्ञान, संसार का कारण है और सम्यक्दर्शन के होने पर 'मांस, तुष' शब्द का ज्ञान न हो, तथापि उसका ज्ञान भव-निवृत्तिरूप है। अहो! देखो, यह है सम्यक्दर्शन की अपार महिमा! ✤

अध्यात्म शास्त्रों की कथन शैली

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

अध्यात्म शास्त्रों में यह नहीं कहा गया है कि जो अभेद है, सो निश्चयनय है। यदि यह अर्थ किया जाये कि जो अभेद है, सो निश्चयनय है, तो कभी निश्चयनय मुख्य हो जायेगा और कभी व्यवहारनय, क्योंकि आगम शास्त्रों में कभी व्यवहारनय को मुख्य और निश्चयनय को गौण करके कथन किया जाता है और अध्यात्मशास्त्रों में सदा यह बताया जाता है कि जो मुख्य है, सो निश्चयनय है और उसी के आश्रय से धर्म होता है, और उसमें निश्चयनय सदा मुख्य ही रहता है। जहाँ विकारी पर्याय का व्यवहारनय से कथन किया जाता है, वहाँ भी यह समझना चाहिये कि निश्चय को ही मुख्य और व्यवहार को गौण करने का आशय है। क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा अपने में शुद्धपर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारीपर्याय को दूर करने के लिये सदा निश्चयनय ही आदरणीय है; उस समय दोनों नयों का ज्ञान होता है, किन्तु धर्म को प्रगट करने के लिये दोनों नय कदापि आदरणीय नहीं है।

व्यवहारनय के आश्रय से कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रय से राग-द्वेष के विकल्प ही उठा करते हैं। छहों द्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये कभी निश्चयनय को मुख्य और व्यवहारनय को गौण करके तथा कभी व्यवहारनय को मुख्य और निश्चयनय को गौण करके कथन किया जाता है। स्वयं विचार करने में भी कभी निश्चयनय की और कभी व्यवहारनय की मुख्यता होती है। अध्यात्मशास्त्रों में भी जीव की विकारीपर्यायें जीव स्वयं करता है, इसलिये होती हैं, और वे जीव के अनन्य परिणाम हैं-इसप्रकार व्यवहारनय से कहा और समझा जाता है; किन्तु ज्ञानियों का यह कथन है कि प्रति समय निश्चयनय ही मुख्य और आदरणीय है। यह मानना भूल है कि कभी निश्चयनय और कभी व्यवहारनय आदरणीय होता है। त्रिकाल में मात्र निश्चयनय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्नः-क्या साधक जीव के नय होते ही नहीं ?

उत्तरः-साधकदशा में ही नय होते हैं। केवली भगवान के प्रमाण होने से नय नहीं होते, अज्ञानी जीव, व्यवहारनय के आश्रय से धर्म होना मानते हैं, इसलिये उनका व्यवहारनय ही निश्चय हो गया! अर्थात् अज्ञानी के सच्चा नय नहीं होता। इसप्रकार साधक जीवों के ही उनके श्रुतज्ञान में

नय होते हैं, निर्विकल्पदशा के अतिरिक्त काल में जब उनके श्रुतज्ञान के भेदरूप उपयोग नयरूप होते हैं तब, और सांसारिक कार्यों में हो या स्वाध्याय व्रत नियमादिक कार्यों में हो, तब जो विकल्प उठते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं। परन्तु उस समय भी उनके ज्ञान में एक मात्र निश्चयनय ही आदरणीय होने से (उस समय व्यवहारनय के होने पर भी, वह आदरणीय न होने से) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इसप्रकार सविकल्पदशा में निश्चयनय आदरणीय है, और व्यवहारनय उपयोगरूप होने पर भी ज्ञान में उसी समय हेयरूप है। इसप्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय– दोनों साधक जीवों के एक ही समय होते हैं।

इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं है कि साधक जीवों के नय होते ही नहीं हैं, क्योंकि साधक जीवों के ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनय के आश्रय के बिना सच्चा व्यवहारनय नहीं होता। जिसके अभिप्राय में व्यवहारनय का आश्रय होता है, उसके निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो जो व्यवहारनय है, वही निश्चयनय होगा।

चारों अनुयोगों में कभी व्यवहार और कभी निश्चयनय को मुख्य करके कथन किया जाता है; किन्तु उस प्रत्येक अनुयोग में कथन का सार एक ही है कि निश्चय और व्यवहार दोनों नय जाननेयोग्य हैं, किन्तु शुद्धता के लिये आश्रय लेनेयोग्य एक मात्र निश्चयनय ही है, व्यवहारनय कदापि नहीं, क्योंकि वह सदा हेय है।

व्यवहारनय के ज्ञान का फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनय का आश्रय करना है। यदि व्यवहारनय को उपादेय माना जाये तो वह व्यवहारनय के सच्चे ज्ञान का फल नहीं, किन्तु व्यवहारनय के अज्ञान का अर्थात् मिथ्याज्ञान का फल है। निश्चयनय के आश्रय लेने का अर्थ यह है कि निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के त्रिकाल चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेना, और व्यवहारनय का आश्रय छोड़ना। उसे हेय समझने का अर्थ यह है कि व्यवहारनय के विषयभूत विकल्प परद्रव्य या स्वद्रव्य की अपूर्ण अवस्था की ओर का आश्रय छोड़ देना।

अध्यात्म में जो मुख्य है, सो निश्चय और जो गौण है, सो व्यवहार माना गया है। यह सिद्धान्त होने से अध्यात्म में सदा निश्चय की ही मुख्यता होती है, और व्यवहार सदा गौणरूप ही होता है। साधक जीव की यह स्थिति या उसकी दृष्टि की सतत यही कक्षा है।

साधकजीव प्रारम्भ से अन्त तक निश्चय की ही मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण करते जाते हैं, इसलिये साधकदशा में निश्चयनय की मुख्यता के बल से साधक को शुद्धता की वृद्धि ही

होती जाती है और अशुद्धता दूर होती जाती है; इसप्रकार निश्चय की मुख्यता के बल से पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्यता-गौणता नहीं होती, और न नय ही होते हैं।

वस्तु में द्रव्य और पर्याय तथा नित्यता और अनित्यतादिरूप जो विरुद्ध धर्मस्वभाव है, वह कभी दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं, उनमें एक के लक्ष से विकल्प टूटते हैं और दूसरे के लक्ष से राग होता है, अर्थात् द्रव्य के लक्ष से विकल्प टूटता है और पर्याय के लक्ष से राग होता है, इसलिये दो नयों का विरोध है।

इसप्रकार द्रव्यस्वभाव की मुख्यता और पर्याय की गौणता करके साधकजीव जब स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, तब विकल्प टूटकर स्वभाव में अभेद-एकरूप होने पर ज्ञान प्रमाण होता है। यदि वह ज्ञानपर्याय की जाने तो भी वहाँ सदा द्रव्यस्वभाव की ही मुख्यता रहती है। इसप्रकार द्रव्यस्वभाव की मुख्यता से स्वभावोन्मुख होने पर ज्ञान प्रमाण होता है; वही द्रव्यस्वभाव की मुख्यता साधकदशा की पूर्णता तक निरंतर बनी रहती है, और जहाँ द्रव्यस्वभाव की मुख्यता है, वहाँ कभी सम्यक्दर्शन से पीछे हटने की बात ही नहीं होती; इसलिये साधकजीव को सततरूप से द्रव्यस्वभाव की मुख्यता के बल से शुद्धता बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान होता है, तब वह वस्तु के परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मों को (द्रव्य और पर्याय को) एक ही साथ जानता है। तब वहाँ एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता करके उस ओर उन्मुख होने की बात नहीं रहती, किन्तु सम्पूर्ण प्रमाण हो जाने पर दोनों नयों का विरोध दूर हो जाता है, अर्थात् वहाँ नय ही नहीं रहते, तथापि वस्तु में जो विरुद्ध धर्मस्वभाव है, वह दूर नहीं हो जाता। ✤

अहिंसा और हिंसा

[पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक ४२ से ९० के आधार से]

जब तक जीव हिंसा और अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को न जाने, तब तक वह कभी भी सच्चा अहिंसा का उपासक नहीं हो सकता और हिंसा को दूर नहीं कर सकता। बहुत से लोग बाह्यसंयोग से अहिंसा या हिंसा मानते हैं, किन्तु वास्तव में अहिंसा या हिंसा बाह्य में नहीं किन्तु आत्मा के भाव में है। देश तथा काल के परिवर्तन के अनुसार बहुत से लोग अहिंसा के स्वरूप में परिवर्तन होना मानते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि अहिंसा किसी देश या काल के आधार पर नहीं किन्तु अपने भावों के आधार से ही होती है, इसलिये उसका स्वरूप सदा एक सा ही होता है। श्री अमृतचंद्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रन्थ में अहिंसा और हिंसा का स्वरूप बड़ी ही अलौकिक रीत से स्पष्टतया बताया है, उसमें से निम्नलिखित कुछ विषय यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) अपने शुद्धोपयोगरूप परिणाम का घात ही वास्तविक हिंसा है। अपने में रागादि भावों कि उत्पत्ति होना हिंसा है और रागादि की उत्पत्ति न होना अहिंसा है। सम्यक्दर्शन प्रगट किये बिना कोई भी जीव सच्चा अहिंसक नहीं हो सकता। अपने भावप्राणों का घात करना, सो हिंसा है। (श्लोक ४२ से ४४)

(२) अन्य जीवों की पीड़ा होने पर भी यदि जीव के कषायभाव न हो तो वह अहिंसा है। अन्य जीव को पीड़ा न होने पर भी यदि जीव के कषायभाव हो तो वह हिंसा है। अपने कषायभाव से ही अपने चैतन्य-प्राण का घात होता है, और वही हिंसा है। अन्य जीवों के कारण इस जीव को किंचित्मात्र भी हिंसा नहीं होती। (श्लोक ४५ से ४९)

(३) शुष्क जीव का लक्षण। (श्लोक ५०)

(४) बाह्य हिंसा के न होने पर भी हिंसक होता है। बाह्य हिंसा के होने पर भी अहिंसक होता है। बाह्य हिंसा थोड़ी दिखाई दे, फिर भी बहुत हिंसा होती है। बाह्य हिंसा बहुत दिखाई दे, फिर भी अंतरंग में थोड़ी हिंसा होती है। बाह्य हिंसा के समान होने पर भी दो पुरुषों की हिंसा में अन्तर होता है। इत्यादि प्रकार से हिंसा-अहिंसा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। (श्लोक ५१ से ५३)

(५) तीव्र हिंसा के स्थानों का वर्णन और उन्हें छोड़ने का उपदेश इसप्रकार दिया है:—

१— मदिरापान में हिंसा (श्लोक ६१ से ६३)

२— माँसभक्षण में हिंसा (श्लोक ६५ से ६८)

३— मुधभक्षण में हिंसा (श्लोक ६९ से ७०)

(६) जो मद्य, माँस, मधु आदि का सेवन करता है, वह जैनधर्म का उपदेश सुनने को भी पात्र नहीं है। सम्यक्दर्शन प्रगट करने के इच्छुक जीव के मद्य, माँस, मधु इत्यादि का सेवन हो ही नहीं सकता, तब फिर यह तो स्पष्ट ही है कि सम्यक्दृष्टि जीवों के तो वह हो ही नहीं सकता। (श्लोक ७४-७५)

(७) हिंसा और अहिंसा का माप बाह्य सामग्री से नहीं हो सकता। धर्म के हेतु से किसी भी जीव को मार डालना, अथवा दु:खमुक्त करने के हेतु से दु:खी जीव को मार डालना, अथवा क्षुधातुर प्राणी को माँस का दान देना, इसप्रकार के समस्त भाव तीव्र हिंसा ही हैं। (श्लोक ७८ से ८९)

(८) परम अहिंसामय जिनमत में प्ररूपित हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को जिस जीव ने जान लिया है, वह कदापि हिंसामय मतों में श्रद्धा नहीं करता। (श्लोक ९०)

अब यहाँ श्लोक अर्थ और भावार्थ सहित दिये जा रहे हैं:—

हिंसा का स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसन् हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्य बोधाय॥४२॥

अर्थ:-आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात का कारण होने से यह (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) सब हिंसा ही हैं। असत्य वचन इत्यादि भेद मात्र शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरण के रूप में कहे गये हैं।

भावार्थ:-असत्य, चोरी इत्यादि सभी पाप-भाव हिंसा में ही गर्भित हैं, क्योंकि उन सबमें आत्मा के शुद्ध परिणाम का घात होता है। आचार्यदेव ने इस श्लोक में संक्षेप में हिंसा का यह स्वरूप बताया है कि-'जो आत्मा के शुद्धोपयोग का घात करता है, सो हिंसा है।'

एक जीव दूसरे जीव को नहीं मार सकता, तथा उसका रक्षण नहीं कर सकता और परजीवों का भला-बुरा भी नहीं कर सकता। किन्तु वैसे भावों से जीव अपनी ही हिंसा करता है। अपने शुद्धस्वरूप की अप्रतीति सबसे बड़ी हिंसा है।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३॥

अर्थः-निश्चय से, कषाययुक्त योग से द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात करना, सो वास्तव में हिंसा है।

भावार्थः-जीव के परिणाम में जो कषाय प्रगट होती है, उससे पहले तो अपने शुद्धोपयोगरूप भाव-प्राण का घात होता है, और ऐसा होने से पहले अपनी हिंसा तो हो ही जाती है, उसके बाद अन्य जीवों का मरण आदि हो या न भी हो। अर्थात् द्रव्यहिंसा न हो फिर भी कषायपरिणाम के द्वारा अपनी भावहिंसा तो हो ही जाती है।

अहिंसा और हिंसा का स्वरूप

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

अर्थः-जीव के परिणाम में रागादि भावों का प्रगट न होना, सो वास्तविक अहिंसा है, और उनकी उत्पत्ति होना, सो हिंसा है, यह जैनागम का संक्षिप्त रहस्य है।

भावार्थः-परम अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करनेवाले जैनधर्म का यही रहस्य है कि-रागादि भावों से अपने शुद्धोपयोगरूप प्राण का घात होता है, इसलिये रागादि भावों का अभाव ही अहिंसा है, और उनका सद्भाव ही हिंसा है।

मैं परजीवों को मार सकता हूँ अथवा बचा सकता है,-ऐसा मिथ्या अभिप्राय जिस जीव के होता है, वह कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता, किन्तु हिंसक ही होता है। क्योंकि जिसके अभिप्राय में यह बात है कि मैं परजीवों को मारूँ या जिलाऊँ, उसके अनन्त परजीवों के प्रति द्वेष और राग अवश्य होता है, इसलिये वह जीव हिंसक ही है। पर के कर्तृत्व का मिथ्या अभिप्राय और अहिंसकता-दोनों कभी एक साथ नहीं हो सकते। मिथ्या अभिप्राय के दूर हो जाने पर-क्रमशः जीव के कषायभाव अवश्य दूर हो जाते हैं; और जहाँ अपने भाव में कषाय न हो, वहाँ अन्य जीवों का मारने अथवा दुःख देने का भाव होता ही नहीं; इसलिये मिथ्यात्व ही हिंसा का मूल है और सम्यक्त्व ही अहिंसा का फल है।

परजीवों का पीड़न होने पर भी अहिंसा

युक्ता चरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
नहि भवंति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अर्थः-योग्य आचरण करनेवाले संत-पुरुष के रागादि भावों का अभाव होने से मात्र

परजीवों के प्राण पीड़न से कदापि हिंसा नहीं होती।

भावार्थः-कोई मुनिराज अथवा अन्य धर्मात्मा पुरुष सावधानीपूर्वक गमनादि कर रहे हों, फिर भी उनके शरीर के निमित्त से किसी जीव को पीड़ा हो जाये तो भी उन्हें हिंसा का दूषण कदापि नहीं लगता, क्योंकि उनके परिणाम कषाययुक्त नहीं हैं और हिंसा का लक्षण तो-कषायसहित योग से प्राण पीड़न होना है। जीव के भावों की अपेक्षा रखे बिना यदि मात्र परजीवों के प्राणपीड़न को ही हिंसा माना जायेगा तो अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा।

परजीवों को पीड़ा न होने पर भी हिंसा

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशपवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥४६॥

अर्थः-यदि जीव, रागादिक भावों के वश होकर प्रवृत्ति करता हुआ अयत्नाचाररूप प्रमाद करता है, तो उस समय अन्य जीव मरे या न मरे, किन्तु हिंसा उस जीव के आगे-आगे दौड़ती है, अर्थात् उसके अवश्य ही हिंसा होती है।

भावार्थः-जो प्रमादी जीवए कषायों के वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नाचारपूर्वक नहीं करताए वह अवश्य हिंसा के दोष का पात्र होता है। उसमें अन्य जीव मरे या न मरे, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। हिंसा तो जीव के कषायभाव से ही होती है।

किसी भी जीव के प्राणों का घात हुऐ बिना हिंसा कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं:-

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥४७॥

अर्थः-कषायभावयुक्त जीव पहले तो अपने आप ही अपने चैतन्य प्राणों का (भावप्राणों का) घात करता है, यही हिंसा है; फिर चाहे वहाँ अन्य जीवों की हिंसा हो या न हो।

भावार्थः-हिंसा शब्द का अर्थ घात करना है। घात दो प्रकार का है-एक अपना घात और दूसरा पर का घात। जिस समय जीव में कषायभावों की उत्पत्ति होती है, उसी समय अपना घात तो हो ही जाता है-और आत्मघात ही हिंसा है। फिर अन्य जीव अपनी आयु के अनुसार जियें या मरें, उनका जीवन-मरण उनकी आयु के अधीन है; किन्तु आत्मघातरूप हिंसा तो कषायभाव के होते ही हो जाती है। 'पर का घात' उपचार-कथन है, क्योंकि शरीर और जीव का वियोग होने में दो में

से किसी एक का भी नाश नहीं होता, इसलिये वह वास्तव में घात नहीं है। अपनी पर्याय में विकार करके आत्मा स्वयं अपने शुद्धोपयोग का घात करता है, और यही वास्तविक घात है। जहाँ परजीवों को दु:ख देने का भाव करता है, वहाँ वास्तव में पर का घात नहीं करता, किन्तु कषाय परिणाम के द्वारा स्वयं अपने शुद्धोपयोग का ही घात करता है। इसीप्रकार जहाँ पर को दु:ख न देने का भाव करता है, वहाँ वास्तव में वह पर के कल्याण के लिये नहीं किन्तु आत्म-कल्याण के लिये ही है। परजीवों का कोई भी भला-बुरा नहीं कर सकता।

जो जीव अमुक संयोगों को प्रतिकूल मानकर दु:खी होते हैं, वे अपनी शारीरिक ममता के कारण दु:खी होते हैं, किन्तु अनुकूल या प्रतिकूल कल्पित संयोग सुख-दु:ख का कारण नहीं हैं। वास्तव में शरीरादि परद्रव्यों की किसी भी अवस्था को अनुकूल या प्रतिकूल मानना बहुत बड़ी भूल है-वासना है। शरीरादि किसी भी परद्रव्य की अवस्था जीव के अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं, मात्र जीव अपनी मिथ्या-कल्पना से वैसी मान्यता बना लेता है। अपने सच्चे स्वरूप की अप्रतीति तथा राग-द्वेष ही वास्तव में जीव के लिये प्रतिकूल हैं, और वही दु:खरूप हैं, तथा यही हिंसा है। आत्मस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा तथा वीतरागभाव ही जीव को अनुकूल है, वही सुखरूप है, और वही अहिंसा है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवतिपुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥४९॥

अर्थः-वास्तव में किसी परवस्तु के कारण आत्मा को किंचित्मात्र भी हिंसा नहीं लगती, फिर भी अपने परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के स्थानों से अपने भावों की निवृत्ति करनी चाहिये।

भावार्थः-रागादिक कषायभाव ही हिंसा है, उसका परवस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। रागादिक परिणाम, परिग्रहादि के अवलंबन से होते हैं; इसलिये परिणामों की विशुद्धि के लिये परिग्रहादि की ओर की लालसा का त्याग करना चाहिये।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेवं संश्रयते।
नाश्यति करणचरणां स बहिः करणालसो बालः॥५०॥

अर्थः-जो जीव निश्चय के स्वरूप को नहीं जानता, किन्तु ऐसा अभिमान करता है कि मैं निश्चय को जानता हूँ, वह जीव, शुद्धभाव और शुभभाव दोनों से भ्रष्ट होकर अशुभपरिणामरूप

प्रवृत्ति करता है। अथवा जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को नहीं जानता और बाह्य परिग्रह के त्याग को ही वास्तव में मोक्षमार्ग मानता है, वह मूर्ख जीव, शुद्धोपयोगरूप आत्मा की दया को नष्ट करता है।

भावार्थः-ऐसा नियम है कि जितने प्रमाण में जीव के अन्तरंग अहिंसाभाव छूट जाते हैं, उतने ही प्रमाण में हिंसा की बाह्य प्रवृत्तियों के प्रति होनेवाला झुकाव भी स्वयमेव छूट जाता है। जो पुरुष यह नहीं जानता और कहता है कि "मेरे अन्तरंग परिणाम तो स्वच्छ हैं, इसलिये बाह्य परिग्रह रखने से या भ्रष्टाचरण करने से मुझे दोष नहीं लगता," वह मिथ्यादृष्टि है। यदि कषायभाव दूर हो गया हो तो उसके कषाय के निमित्तों का अवलम्बन हो ही नहीं सकता।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकं।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥५१॥

अर्थः-निश्चय से कोई जीव बाह्य हिंसा न करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र होता है, और दूसरा कोई जीव बाह्य हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।

भावार्थः-बाह्य में हिंसा का काम न हो, तथापि जिस जीव के हिंसा के परिणाम होते हैं, वह हिंसा के फल को भोगता है, और कहीं पर बाह्य में तो हिंसा का कार्य होता है किन्तु यदि जीव के परिणाम में हिंसा का भाव नहीं होता तो वह जीव हिंसा के दोष का पात्र कदापि नहीं होता।

एकस्याल्पाहिंसा ददातिकाले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥५२॥

अर्थः-किसी जीव के बाह्य हिंसा थोड़ी हो किन्तु (भाव में तीव्र कषाय होने से) वह उदयकाल में अधिक फल देती है, और किसी जीव के बाह्य हिंसा अधिक हो फिर भी (यदि भाव में तीव्र कषाय न हो तो) वह उदयकाल में बहुत कम फल देती है।

भावार्थः-हिंसा बाह्य के आधार से नहीं होती, किन्तु अन्तरंग कषाय ही हिंसा है, इसलिये किसी पुरुष के बाह्य हिंसा थोड़ी दिखाई देती हो किन्तु यदि वह अपने परिणामों में हिंसा भाव से अधिक लिप्त हो तो उसे तीव्र कर्मबन्ध होगा और किसी पुरुष के बाह्य हिंसा तो अधिक दिखाई दे किन्तु अन्तरंग में हिंसा के अधिक भाव न हों तो उसके मन्द कर्मबन्ध होगा। (अपूर्ण)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१४-५-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड